ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

अध्यात्म पराग

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी,
कृपालुदेव श्री राजचन्द्रजी,
पुरुषार्थमूर्ति श्री निहालचन्द्रजी सोगानी एवं
पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनामृतों से
चयनित 250 रत्न कणिकायें)

सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

वि. सं.
2077

वी. सं.
2547

ई. सन
2021

—: प्रकाशन तिथि :—

फाल्गुन शुक्ल 2 (15 मार्च 2021)

श्री सीमन्धर भगवान प्रतिष्ठा सोनगढ़ (वि.सं. 1997)

की वार्षिक तिथि के उपलक्ष्य में

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250 फोन : 02846–244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई–400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर, अलीगढ़।

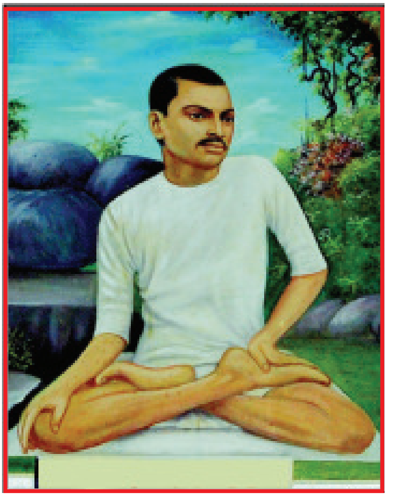

सत्पुरुषों का योगबल जयवंत वर्तो!

प्रकाशकीय

अध्यात्म पराग नामक लघुकाय ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्यात्ममूर्ति पूज्य सद्‌गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के; कृपालुदेव श्रीमद् राजचन्द्रजी के; पुरुषार्थमूर्ति श्री निहालचन्दजी सोगानी के तथा प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबहिन के प्रवचनों एवं वचनामृतों से चयनित २५० रत्न कणिकाओं का अनुपम संकलन किया गया है। जो प्रत्येक आत्महितैषी मुमुक्षु के लिये अत्यन्त प्रयोजनभूत है। ज्ञानियों की कथनपद्धति में विविधता होने पर भी प्रयोजनभूत लक्ष्यबिन्दु एक ही होता है, वह इस पुस्तक के गहन अभ्यास से स्पष्टरूप से समझा जा सकता है।

इस पुस्तक का गुजराती में दो बार प्रकाशन श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर द्वारा किया गया है, हिन्दी भाषी मुमुक्षु समाज भी इन वचनामृतों का रसास्वादन कर सकें इस भावना से यह प्रस्तुत हिन्दी प्रकाशन किया जा रहा है, जिसका हिन्दी अनुवादकार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) ने किया है।

सभी जीव इन वचनामृतों के आलोक में निजहित साधें यही भावना है।

प्रस्तुत पुस्तक www.vitragvani.com पर भी उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

अनुक्रमणिका

1. पूज्य गुरुदेवश्री के वचनामृत 1
2. श्रीमद् राजचन्द्रजी के वचनामृत 18
3. श्री निहालचन्द्रजी सोगानी के वचनामृत 27
4. पूज्य बहिनश्री के वचनामृत 36

ॐ

श्री सद्गुरुदेवाय नमः

अध्यात्म पराग

अध्यात्म कणिका

✶ पूज्य गुरुदेवश्री हृद्योगद्गार ✶

(1)

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते,
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावांतरच्छिदे।

(2)

पूर्णानन्द का नाथ भरोसे में (श्रद्धा में) जब आता है, तब पर्याय में आनन्द की लहर आती है।

(3)

श्री धवल में आता है कि मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। मतिज्ञान में ज्ञान की पुकार है कि केवलज्ञान आयेगा ही।

(4)

पूर्ण का स्वीकार करता है, वह पूर्ण होता है।

(5)

प्रभु तुम जाणग रीति, सौ जग देखता हो लाल,
निज सत्ता से शुद्ध, सबको पेखता हो लाल।

(6)

ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की,
त्यों ही जीव स्वभाव रे;
श्री जिनवीर ने धर्म प्रकाशिया,
प्रबल कषाय अभाव रे।

(7)

ज्ञायकभाव शुभाशुभभावरूप हुआ नहीं, इसलिए समकित होने का अवकाश रह गया है।

(8)

ज्ञायकभाव शुभाशुभभावरूप नहीं हुआ होने से उसे पकड़ने में तुझे सरलता लगेगी।

(9)

त्रिकाली चीज़ नजर में पड़े, उसे सम्यग्दर्शन पच सकता है। सम्यग्ज्ञान है वह शुद्धात्मा का प्रकाशक है, सब जानता है। सम्यक्चारित्र दाहक है, वह अशुद्धि को जलाता है।

(10)

जैसे समुद्र में ज्वार आता है, वैसे सन्तों को अतीन्द्रिय आनन्द का ज्वार पर्याय में आता है।

(11)

भरतक्षेत्र में भगवान का विरह पड़ा, परन्तु जगत के भाग्य है कि भगवान की वाणी रह गयी, जिसने केवली का विरह भुलाया।

(12)

धर्म की जिज्ञासावाले को पहले क्या करना? चैतन्यरत्नाकर ऐसे आत्मा को प्रथम जानना।

(13)

एक समय का सम्यग्दर्शन, भव के अभाव के भणकार लाता है।

(14)

पूरे विश्व पर मानो कि तैरता हो, ऐसा आत्मा है। केवलज्ञानियों से भी जुदा और तैरता ऐसा आत्मा है।

(15)

अल्पज्ञ पर्याय में पूर्ण परमात्मा भासित होता है।

(16)

वीतरागमार्ग वीतरागता से ही खड़ा होता है। वीतराग के पन्थ में होने से, वीतरागता हाथ आती है और सादि-अनन्त का सुख प्राप्त होता है।

(17)

आत्मा को पर्यायरहित देखे, वह शुद्धनय है; पर्यायसहित

देखे, वह अशुद्धनय है। जिसमें एकपना नजर में आवे, वह शुद्धनय; जिसमें दोपना नजर में आवे, वह अशुद्धनय।

(18)

अनन्त काल में नहीं की हो, ऐसी राग से भिन्नता कर लेना।

(19)

समयसार भरतक्षेत्र का अद्वितीय चक्षु है, भागवत शास्त्र है, अजोड़ शास्त्र है, अशरीरी होने का और सिद्ध होने का यह शास्त्र है।

(20)

शुभभाव की दृष्टि छोड़कर स्वरूप की दृष्टि करता है, वह मर्द है। शुभभाव की दृष्टि नहीं छोड़े, वह तो नामर्दाई है।

(21)

भावेन्द्रिय का उघाड़, वह परज्ञेय है। उसे स्वज्ञेय से भिन्न करके, स्व को ज्ञेय बनाता है।

(22)

संसार का बीज चैतन्यस्वभाव का अज्ञान, वह राग-द्वेष का कर्तृत्व मनाता है। राग-द्वेष का कर्तृत्व होने पर अकर्ता ऐसा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव इसकी दृष्टि में नहीं आता। इसलिए परिभ्रमण का मूल ऐसा राग-द्वेष का कर्तृत्व, ऐसा अज्ञान, वही संसार का बीज है।

(23)

मुक्ति का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह ज्ञानमात्र ही पर्याय है। उसमें रागमात्र का अभाव है; इसलिए उसे ज्ञानमात्र कहा है। ज्ञानमात्र कहने से रागमात्र का अभाव बतलाते हैं, परन्तु उसमें दर्शन, शान्ति, आनन्द आदि का अविनाभाव है, इसलिए वह ज्ञानमात्र पर्याय ही मुक्ति का कारण है।

(24)

चिन्तामणि रत्न निज परम पावन परमात्मा का निज परम स्वरूप, उसके प्रवाह की परम प्रतीति और उसमें स्थिरता, वह अमूल्य चिन्तामणि रत्न है कि जिसका मूल्यांकन नहीं हो सकता।

(25)

शान्ति का, सुख का और परमात्मा होने का उपाय अनन्त गुणस्वरूप आत्मा के एकरूप स्वरूप को दृष्टि में लेकर, उसे (आत्मा को) एक को ध्येय बनाकर, उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना, वही पहले में पहला शान्ति-सुख का उपाय है।

(26)

जिसे पर से छूटना हो अर्थात् कि स्वतन्त्रता प्राप्त करनी हो और स्व की सम्पदा में एकता करनी हो, उसे प्रथम से ही संयोगों और विकारों से रहित दृष्टि करके, स्वाभाविक और

परिपूर्ण ऐसे निर्विकार स्वभाव में स्थिरता करना, वह पर से पूर्णरूप से छूटने का एकमात्र उपाय है।

(27)

अनादि-अनन्त एक निज शुद्ध चैतन्यस्वरूप का स्वसन्मुख होकर आराधन करना, वही परमात्मा होने का सच्चा उपाय है।

(28)

भावश्रुतज्ञानरूप परिणमन कि जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र समाहित होते हैं, उस भावश्रुतज्ञानरूप परिणमन अखण्ड एक द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है, जो सर्वज्ञ के सर्व कथन का सार है।

(29)

सत्समागम, सहज स्वभाव की समझ और सहज सरलता बिना सम्भव नहीं कारण कि सहज स्वभाव सरल ही है, इसलिए सुखी होना चाहनेवाले को सहज स्वभाव और सहज सरलता की सन्धि करने के लिये सत्समागम करना चाहिए।

(30)

एक आत्मद्रव्य में एक गुण अनन्त शक्तिसम्पन्न है। ऐसे अनन्त गुण अनन्त शक्तिसम्पन्न होने से उसका आधार ऐसा एकरूप द्रव्य, वह दृष्टि का ध्येय है।

(31)

जिसे निर्दोष होना हो, उसे सदोषता क्षणिक है, टल

सकती है—ऐसा निर्णय करना चाहिए। और सदोषता के स्थान में निर्दोषता लाना है, वह निर्दोषता मेरे स्वक्षेत्र में स्वभावरूप से पूर्णरूप से पड़ी है, ऐसा निर्णय करना चाहिए।

(32)

परम अकषाय शान्तरसस्वरूप आत्मा जो कि ऐसी शान्तरस आदि अनन्त शक्ति का पिण्ड है, ऐसे चैतन्यरूप हिमालय का आश्रय करता जीव संसार की आकुलतारूप विषम आताप को टालता है।

(33)

उपादेय शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे पाँच द्रव्य और संसारी जीव का ज्ञान करने से, ज्ञान करनेवाले को ज्ञान नहीं तथा सुख नहीं। शुद्ध स्वभाव का ज्ञान करनेवाले को ज्ञान है और सुख है; इसलिए शुद्धात्मा ही उपादेय है।

(34)

अनेकान्त, वह अमृत है, क्योंकि सत् स्वपने है और परपने नहीं। उसमें स्व का होना, वह पर के अभावभावरूप होने से स्व की शान्ति वेदन में आती है, वही अमृत है।

(35)

आत्मा सहज आनन्दस्वरूप है। वह वास्तव में दुःखरूप नहीं, क्योंकि पदार्थ का सहजस्वभाव अविकृत होता है; इसलिए असल में दुःख नहीं है।

(36)

परिपूर्ण द्रव्य को लक्ष्यगत करने में जो भेदरूप ज्ञान की पर्याय, जो द्रव्यश्रुतरूप से है, वह सर्व श्रुतपने को पाती है क्योंकि सर्व स्वभाव का आधार ऐसा जो अभेद द्रव्य, उसे पकड़ने में वह निमित्त होता है।

(37)

आत्मा में एक सुखशक्ति नाम का गुण है कि जिसकी अन्तरशक्ति की मर्यादा अनन्त है, ऐसे गुण की वृद्धि द्वारा आत्मरूप द्रव्य का आदर करता हुआ पाँच इन्द्रियों के—इन्द्र आदि के विषयों को भी हेय जानकर छोड़ता है।

(38)

पाँच बोल से पूरा प्रभु :-

परम पारिणामिकभाव हूँ।
कारणपरमात्मा हूँ।
कारण जीव हूँ।
शुद्धोपयोगोहं
निर्विकल्पोहं

(39)

आत्मानुभव होने पर जो मति-श्रुतज्ञान प्रगट हुआ, उसका अचिन्त्य सामर्थ्य है। द्रव्य को पूरा जाने और लोकालोक को भी जाने, इतना ही उसका सामर्थ्य है।

(40)

इसके ज्ञान में रखे तो सही कि इस त्रिकाली वस्तु के आश्रय बिना तीन काल में कल्याण होनेवाला नहीं और इसके बिना जो कुछ होता है, वह एकान्त से नुकसान ही है।

(41)

वर्तमान उदय में जीव इतना अधिक रचा-पचा रहता है कि भावी के सादि-अनन्त काल में मेरा क्या होगा? इस विचार पर उसका वजन नहीं आता।

(42)

वस्तु की दृष्टि होगी तो महा आनन्द में आयेगा, वरना तो चार गति के भयंकर दुःख पिलेगा।

(43)

वस्तु की सिद्धि करने के लिये दो नय है, बाकी मोक्षमार्ग तो एक को मुख्य करने से ही होता है। व्यवहारनय की उपेक्षा, वही उसका सापेक्षपना है।

(44)

तीर्थंकरदेव की वाणी में परिपूर्णता के भणकार कैसे आते हैं? तीर्थंकरदेव स्वयं, छद्मस्थदशा में थे, तब 'पूर्ण होऊँ, पूर्ण होऊँ' ऐसे विकल्प बारम्बार आते थे, उस विकल्प के फल में जो पुण्य बँधा, उस पुण्य के फलरूप जो वाणी आती है, उसमें पूर्णता की ही रणकार आती है।

(45)

एक क्षणभर के स्वानुभव से ज्ञानी को जो कर्म टूटते हैं, अज्ञानी को लाखों उपाय करने पर भी उतने कर्म नहीं टूटते। इस प्रकार सम्यक्त्व की और स्वानुभव की कोई अचिन्त्य महिमा है, ऐसा समझकर, हे जीव! उसकी आराधना में तत्पर हो।

(46)

हजारों वर्ष के शास्त्र पठन की अपेक्षा एक क्षण का स्वानुभव बढ़ जाता है। जिसे भवसमुद्र से तिरना हो, उसे स्वानुभव की विद्या सीखनेयोग्य है।

(47)

मोक्षमार्ग का उद्घाटन निर्विकल्प स्वानुभव द्वारा होता है।

(48)

संसार में चाहे जैसे क्लेश के या प्रतिकूलता के प्रसंग आवें, परन्तु ज्ञानी को जहाँ चैतन्य की स्फुरणा हुई, वहाँ वे सब क्लेश कहीं भाग जाते हैं।

(49)

चैतन्य के अनुभव की खुमारी धर्मी के चित्त को अन्यत्र कहीं लगने नहीं देती। स्वानुभव के शान्तरस से वह तृप्त-तृप्त है। चैतन्य के आनन्द की मस्ती में वह ऐसा मस्त है कि अब दूसरा कुछ करने का रहा नहीं।

(50)

आत्मा का अस्तित्व जिसमें नहीं, आत्मा का जीवन जिसमें नहीं, ऐसे परद्रव्यों में धर्मी का चित्त कैसे लगे? आनन्द का समुद्र जहाँ देखा है, वहाँ ही उसका चित्त लगा है।

(51)

अनुभव, वह चिन्तामणि रत्न है; अनुभव, वह शान्तरस का कुँआ है; अनुभव, वह मुक्ति का मार्ग है और अनुभव, वह मोक्षस्वरूप है।

(52)

यह निरालम्बी ज्ञान जगत में किसी से घिरता नहीं है। ज्ञान तो रोग से या राग से–सबसे अद्धर का अद्धर ही रहता है।

(53)

एक सेकेण्डमात्र का सम्यग्दर्शन अनन्त जन्म–मरण का नाश करनेवाला है। एकमात्र सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जीव अनन्त काल में सब कर चुका है।

(54)

पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत, वही वास्तविक शुरुआत है।

(55)

द्रव्यदृष्टि, वही सम्यग्दृष्टि।

(56)

विकल्परहित ज्ञान की वेदना कैसी है, उसका अन्तर्लक्ष्य

करना, इसका नाम भावश्रुत का लक्ष्य है। राग की अपेक्षा छोड़कर स्व का लक्ष्य करने से भावश्रुत खिलता है और उस भावश्रुत में आनन्द के फब्बारा है।

(57)

ध्रुव आनन्ददल पर नजर पड़ते ही पर्याय को विश्राम मिल जाता है। ज्ञान ज्ञायक में जम जाता है, सदा के लिये सुखी बन जाता है।

(58)

अव्यक्त पदार्थ के आधीन होना, वह परमात्मा होने का लक्षण है। उसके आधीन हुआ, वह सुखी है।

(59)

इस काल में बुद्धि थोड़ी है, आयु थोड़ी है, सत् समागम दुर्लभ है; उसमें हे जीव! तुझे वही सीखनेयोग्य है कि जिससे तेरा हित हो और जन्म-मरण मिटे।

(60)

'मैं शुद्ध चिद्रूप हूँ'—ऐसे निर्णय से शुद्ध चिद्रूप प्राप्त होता है। वह श्रुतसमुद्र में से निकला हुआ उत्तम रत्न है, सर्व तीर्थों में वह उत्तम तीर्थ है, सुखों का वह खजाना है, मोक्षनगरी में जाने के लिये वह तेज वाहन है, भव के वन को जला डालने के लिये वह अग्नि है।

(61)

हे प्रभु! दिव्यध्वनि द्वारा आपने अचिंत्य निधान जगत को बतलाया—ऐसे निधान बतलाये कि मोक्षार्थी जीव उनके पास बड़े-बड़े राज्यपद को तुच्छ तृणवत् समझकर, उन्हें छोड़कर मुनि होकर उस चैतन्यनिधान को साधने के लिये वन में चल निकले।

(62)

स्वयंभूरमण समुद्र के तल में असंख्य रत्न भरे पड़े हैं, इसी प्रकार चैतन्य प्रभु के तल में अनन्तानन्त गुण रत्न भरे पड़े हैं।

(63)

एक समय का अनन्त दुःख, ऐसा दुःख अनन्त काल से चला आया है; उसका नाश हो और सादि-अनन्त का अनन्त सुख प्रगटे, उसका उपाय भी अलौकिक ही होगा न!

(64)

चमड़ी उतारकर नमक छिड़के, ऐसी राग की पीड़ा है।

(65)

खाखरा की गिलहरी शक्कर का स्वाद कहाँ से जाने? इसी प्रकार इन्द्रियज्ञान में ही लुब्ध प्राणी अतीन्द्रिय सुख के स्वाद को कहाँ से जाने? जिसने ज्ञान को अन्तर में झुकाकर अतीन्द्रिय वस्तु को कभी लक्ष्यगत किया नहीं, उसे अतीन्द्रिय

वस्तु के अतीन्द्रिय सुख की कल्पना भी कहाँ से आवे ? ज्ञानी ने चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का अपूर्व स्वाद चखा है।

(66)

हे जीव! तेरे अनन्त गुण ही तेरे सदा के साथीदार हैं। यह साथीदार ही दुःख से तेरी रक्षा करनेवाले और तुझे सुख देनेवाले हैं।

(67)

अरे चैतन्य प्रभु! तेरी शक्ति की एक टंकार से तू केवलज्ञान ले, ऐसी तेरी ताकत है।

(68)

४७शक्तियाँ आत्मा का वैभव है। ऐसे वैभवशाली भगवान आत्मा का अन्तर में ध्यान करने से ज्ञान, आनन्दरूपी वैभव प्रगट होता है।

(69)

अहा! मोक्षमार्गी जीवों के जीवन कोई अलौकिक प्रकार के हैं। अपने चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य सबसे उन्हें उदासीनता है। जगत के प्रसंगों से उनकी परिणति हिल नहीं जाती। अन्तर की अनुभवदशा में चैतन्य के आनन्द के समुद्र डोलते देखे हैं। उनका चित्त अब अन्यत्र कैसे लगे ? आत्मा के निजवैभव में लगा हुआ चित्त कहीं लगता नहीं।

(70)

स्वावलम्बी उपयोगरूप स्वरूप को साधकर जिस क्षेत्र से सिद्ध हुए, उसी क्षेत्र से समश्रेणी से ऊर्ध्व सिद्धरूप से विराजते हैं। उनके स्मरण में कारणरूप यह तीर्थ निमित्त है।

(71)

सम्यग्दृष्टि होने पर सहजात्मचैतन्य का स्वामी होता है, उसका फल मुक्ति है। उससे विपरीत मिथ्या रुचि में परपदार्थ और विकार का स्वामी होता है, वह बन्ध का कारण है।

(72)

अन्तर में निवास करने में तेरे भेद को भूलना पड़ेगा। भगवान कहते हैं कि मुझे तो भूल जा, परन्तु तेरे गुण-भेदों को भी भूल जा, तब तुझे अभेद का पता लगेगा।

(73)

प्रभु! तुझे कितनी बार कहना कि तू प्रभु है!

(74)

राग के परिणाम पुद्‍गल के हैं—ऐसा ज्ञात हो, तब वह सिद्ध के पन्थ में जाता है, मोक्ष के मार्ग में चढ़ता है, सच्चा प्रयाण होता है।

(75)

आत्मा की सोबत होकर आत्मा का परिचय हुआ, वह परिणति मुक्तिपंथ में जाती है।

(76)

दृष्टि में तेरे द्रव्य को पचा। यह है प्रभुता का सन्देश, इसे तू स्वीकार कर लेना।

(77)

अनन्त बार जीव ने द्रव्यलिंग पालन किया है, परन्तु भव के अभाव का कारण—आत्मज्ञान को एक समयमात्र भी सेवन नहीं किया।

(78)

अनुभूति द्वारा जिसने मोक्ष को प्राप्त किया, उसने करनेयोग्य सब कर लिया।

(79)

सत् के पन्थ में आये बिना सुखी नहीं हुआ जाता।

(80)

धर्मी ने ऐसा मन्थन करके भगवान को प्राप्त किया है कि जिसकी निर्विभाग महिमा है—या जिसमें कारकभेद, धर्म के भेद या गुणभेद नहीं है।

(81)

एक समय में मैं चिदानन्द परिपूर्ण हूँ—ऐसी प्रतीति, वह भव के नाश का कारण है। ऐसी प्रतीति होने के पश्चात् अल्प राग रहे, वह पर के पक्ष में जाता है।

(82)

अहो! महान सन्त मुनीश्वरों ने जंगल में रहकर आत्मस्वभाव का अमृत प्रवाहित किया है। आचार्यदेव धर्म के स्तम्भ हैं, जिन्होंने पवित्र धर्म को टिका रखा है। गजब काम किया है। साधकदशा में स्वरूप की शान्ति वेदते हुए परीषहों को जीतकर परम सत् को जीवन्त रखा है। आचार्यदेव के कथन में केवलज्ञान की भणकार बज रही है। ऐसे महान शास्त्रों की रचना करके बहुत जीवों पर अमाप उपकार किया है। रचना तो देखो! पद-पद में कितना गम्भीर रहस्य है! यह तो सत्य की प्रसिद्धि है, इसके संस्कार अपूर्व चीज़ है और यह समझण तो मुक्ति को वरने का श्रीफल है। समझे उसका मोक्ष ही है।

(83)

प्रथम श्रद्धा करे कि नयपक्ष के विकल्प रहित मेरा सहज स्वरूप है। एकाकार है, ऐसे निःशंक हो, फिर विकल्प हो तो भी वह आगे जानेवाला है; विकल्प तोड़ेगा और स्वभाव में जायेगा।

(84)

जिज्ञासु जीव को सत्य का स्वीकार होने के लिये अन्तर विचार के स्थान में सत्य को समझने का अवकाश अवश्य रखना चाहिए।

(85)

पर्याय में राग होने पर भी मेरे सहज स्वरूप में राग नहीं है, यह अपूर्व अन्तर्दृष्टि की चीज़ है।

(86)

स्व के आश्रय से हो वह सम्यग्ज्ञान है। पर्याय स्व की हो या पर की हो, पर्याय-लक्ष्य होने पर विकल्प उठता है। अनन्त गुणों की पर्याय अन्दर में जब द्रव्य की ओर ढलती है, तब उसे ज्ञान और सुख होता है। भाई! सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव का मार्ग अर्थात् शुद्ध जीव का मार्ग, कोई अलौकिक है!

(87)

जैन कोई सम्प्रदाय नहीं। गुणस्वरूप जो शुद्ध चैतन्यघन, उसे जो पर्याय में उपादेय करके अनुभव करता है, उसने राग और अज्ञान को जीता है, उसे जैन कहा जाता है।

(88)

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है। वह कभी भी स्वभाव से भूलरूप नहीं होता।

(89)

आत्मा का एक भी गुण परमाणु में मिल नहीं गया है तथा चैतन्यगुण में निमित्त का प्रवेश नहीं; ऐसे अनुभवदशा के भान द्वारा पुरुषार्थ की जागृति सहित ज्ञानी कहते हैं।

(90)

सच्चा ज्ञान अन्तर से समाधान करता है और अज्ञानभाव पर में ठीक-अठीक कल्पना करता है।

(91)

सहजात्मस्वरूप, सर्वज्ञदेव, परमगुरु.....

✶✶

✶ श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत ✶

(1)

अनन्त काल से जो ज्ञान भवहेतु होता था, उस ज्ञान को क्षत्रमात्र में जात्यान्तर करके जिसने भवनिवृत्तिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन को नमस्कार।

(2)

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य से अभेद, ऐसे आत्मा का एक पल भी विचार करो।

(3)

हमने बहुत विचार करके यह मूलतत्त्व शोधा है कि— गुप्त चमत्कार ही सृष्टि के लक्ष्य में नहीं।

(4)

एक भव के थोड़े सुख के लिये अनन्त भव का अनन्त दु:ख नहीं बढ़ाने का प्रयत्न सत्पुरुष करते हैं।

(5)

कैसा आश्चर्यकारक कि एक कल्पना का जय एक कल्प में होना दुर्लभ, ऐसी अनन्त कल्पनायें कल्पना अनन्तवें भाग जिनेन्द्रदेव ने शमन दी है!

(6)

द्रव्यानुयोग परम गम्भीर और सूक्ष्म है। निर्ग्रन्थ प्रवचन

का रहस्य है, शुक्लध्यान का अनन्य कारण है। शुक्लध्यान से केवलज्ञान समुत्पन्न होता है। महाभाग्य द्वारा उस द्रव्यानुयोग की प्राप्ति होती है।

(7)

दर्शनमोह का अनुभाग घटने से अथवा नाश पाने से, विषय के प्रति उदासीनता से और महत्पुरुष के चरणकमल की उपासना के बल से द्रव्यानुयोग परिणमता है।

(8)

हे आर्य! द्रव्यानुयोग का फल सर्व भाव से विराम पानेरूप संयम है। वह इस पुरुष के वचन तेरे अन्तःकरण में तू कभी शिथिल करना नहीं। अधिक क्या? समाधि का रहस्य यही है। सर्व दुःख से मुक्त होने का अनन्य उपाय यही है।

(9)

सहज स्वरूप से जीव की स्थिति होना, उसे श्री वीतराग मोक्ष कहते हैं। सहजस्वरूप से जीव रहित नहीं है परन्तु उस सहजस्वरूप का मात्र भान जीव को नहीं है, जो हुआ वह ही सहजस्वरूप से स्थिति है।

(10)

संग के योग से यह जीव सहजस्थिति को भूला है। संग की निवृत्ति से सहज स्वरूप का अपरोक्ष भान प्रगट होता है। इसीलिए सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानियों ने असंगता को ही सर्वोत्कृष्ट

कहा है कि जिसके अंग में सर्व आत्म–साधन रहे हैं।

(11)

सर्व जिनागम में कहे हुए वचन एकमात्र असंगपने में ही समाहित होते हैं, क्योंकि वह होने के लिये ही वे सर्व वचन कहे हैं।

(12)

सर्व भाव से असंगपना होना, वह सर्व से दुष्कर में दुष्कर साधन है। वह निराश्रयरूप से सिद्ध होना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसा विचारकर श्री तीर्थंकर ने सत्संग को उसका आधार कहा है।

(13)

जिसे मार्ग की इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे सब विकल्प छोड़कर यह एक विकल्प बारम्बार स्मरण करना आवश्यक है:—

'अनन्त काल से जीव का परिभ्रमण होने पर भी उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती? और वह क्या करने से होगी?'

इस वाक्य में अनन्त अर्थ समाहित हैं और इस वाक्य में कही हुई चिन्तना किये बिना, उसके लिये दृढ़ होकर झूरे बिना मार्ग की दिशा का अल्प भी भान नहीं होता।

(14)

सत्स्वरूप को अभेदभाव से नमोनमः

(15)

निःशंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है और उससे निःसंगता प्राप्त होती है।

(16)

सत्पुरुष में ही परमेश्वरबुद्धि, उसे ज्ञानियों ने परम धर्म कहा है; और वह बुद्धि परम दैन्यत्व सूचित करती है। यह 'परम दैन्यत्व' जब तक आवृत्त रहा है, तब तक जीव की योग्यता प्रतिबन्धयुक्त होती है।

(17)

शास्त्रादि के ज्ञान से निवेडा नहीं परन्तु अनुभव ज्ञान से निवेड़ा है।

(18)

लेवेको न रही कोर, त्यागीवेको नाहीं ओर,
बाकी कहा उबर्यो जु, कारज नयीनो है;
संगत्यागी, अंगत्यागी, वचनतरंगत्यागी,
मनत्यागी, बुद्धित्यागी, आप शुद्ध कीनो है।

(19)

शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता में केलि करे,
शुद्धता में थिर व्है, अमृत धारा वरसे।

(20)

एक देखिये जानिये, रमी रहिये एक ठोर,
समल, विमल न विचारिये, यही सिद्धि नहीं ओर।

(21)

लोगों ने शक्कर के श्रीफल की महिमा की है, परन्तु यहाँ तो अमृत की सचोडी नारियेली है।

(22)

हजारों उपदेश वचन, कथन सुनने की अपेक्षा उनमें के थोड़े वचन भी विचारना, वह विशेष कल्याणकारी है।

(23)

भिन्न-भिन्न प्रकार से उस जीव का विचार होने के लिये— वह जीव प्राप्त होने के लिये योगादिक अनेक साधनों का बलवान परिश्रम करने पर भी प्राप्ति न हुई, वह जीव जिसके द्वारा सहज प्राप्त होता है, वही कहने में जिनका उद्देश है, उन तीर्थंकर के उपदेश वचन को नमस्कार करते हैं।

(24)

तमतमप्रभा का दुःख मुझे मान्य है, परन्तु मोहनीय का दुःख सम्मत नहीं।

(25)

जिस आत्मस्वरूप के प्रगट होने से सर्वकाल जीव सम्पूर्ण

आनन्द को प्राप्त होकर निर्भय होता है, उस वचन के कहनेवाले ऐसे सत्पुरुष के गुण की व्याख्या करने को अशक्ति है।

(26)

अन्य सम्बन्धी जो तादात्म्यपना भासित हुआ है, वह तादात्म्य निवृत्त हो तो सहज स्वभाव से आत्मा मुक्त ही है; ऐसा श्री ऋषभादि अनन्त ज्ञानी पुरुष कह गये हैं।

(27)

देह की जितनी चिन्ता रखता है, उतनी नहीं परन्तु उससे अनन्तगुणी चिन्ता आत्मा की रख; क्योंकि अनन्त भव एक भव में टालना है।

(28)

'आत्मा सुनना, विचारना, निदिध्यासना, अनुभवना' यह एक ही प्रवृत्ति की जाये तो जीव तिरकर पार पावे, ऐसा लगता है।

(29)

व्यवहार चिन्ता का वेदन अन्तर से कम करना यह एक मार्ग पाने का साधन है।

(30)

सर्व विभाव से उदासीन और अत्यन्त शुद्ध निजपर्याय को सहजरूप से आत्मा भजे, उसे श्रीजिन ने तीव्र ज्ञानदशा कही है।

(31)

योग्यता, ज्ञान प्राप्ति के लिये बहुत बलवान कारण है।

(32)

हे मुमुक्षु! एक आत्मा को जानने से समस्त लोकालोक को जानेगा और सर्व जानने का फल भी एक आत्मप्राप्ति है; इसलिए आत्मा से भिन्न ऐसे दूसरे भाव जानने की बारम्बार की इच्छा से निवर्त, और एक निजस्वरूप में दृष्टि दे।

(33)

दृश्य को अदृश्य किया और अदृश्य को दृश्य किया, ऐसा ज्ञानी पुरुषों का आश्चर्यकारक अनन्त ऐश्वर्यवीर्य वाणी से कहा जा सकना योग्य नहीं है।

(34)

जिसकी मोक्ष के अतिरिक्त किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं थी और अखण्ड स्वरूप में रमणता होने से मोक्ष की इच्छा भी निवृत्त हुई है, उसे हे नाथ! तू तुष्टमान होकर भी दूसरा क्या देनेवाला था?

(35)

सर्व दुःख से मुक्त होने का सर्वोत्कृष्ट उपाय आत्मज्ञान को कहा है, यह ज्ञानी पुरुषों के वचन सत्य हैं, अत्यन्त सत्य हैं।

(36)

अटल अनुभवस्वरूप आत्मा सर्व द्रव्य से प्रत्यक्ष भिन्न भासित होना, वहाँ से मुक्तदशा वर्तती है, वह पुरुष मौन होता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध होता है, वह पुरुष असंग होता है, वह पुरुष निर्विकल्प होता है और वह पुरुष मुक्त होता है।

(37)

विचारदशा बिना ज्ञानदशा नहीं होती।

(38)

अनन्त अव्याबाध सुख का एक अनन्य उपाय स्वरूपस्थ होना, वह ही है। वही हितकारी उपाय ज्ञानियों ने देखा है। भगवान जिनेन्द्र ने द्वादशांगी इसी के लिये निरूपण किया है।

(39)

काया की विसारी माया, स्वरूप में समाये ऐसे,
निर्ग्रन्थ का पन्थ, भव अन्त का उपाय है।

(40)

दिगम्बर के आचार्यों ने ऐसा स्वीकार किया है कि— 'जीव का मोक्ष होता नहीं, परन्तु मोक्ष समझ में आता है; वह इस प्रकार से कि जीव शुद्धस्वरूपी है, उसे बन्ध हुआ नहीं तो फिर मोक्ष होना भी कहाँ रहता है ?'

(41)

आज तक अस्तित्व भासित नहीं हुआ। अस्तित्व भास

होने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अस्तित्व, वह सम्यक्त्व का अंग है। अस्तित्व जो एक समय भी भासित हो तो वह दृष्टि की भाँति नजर में आता है और नजर में आने से आत्मा वहाँ से हट नहीं सकता। यदि आगे बढ़े तो भी पैर पीछे पड़ते हैं। अर्थात् प्रकृति जोर देती नहीं। एक बार सम्यक्त्व आने के पश्चात् वह गिरे तो वापस ठिकाने आता है। ऐसा होने का मूलकारण अस्तित्व भासित हुआ है, वह है।

(42)

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म,
कर्म कटे सो जिनवचन, तत्त्वज्ञानी को मर्म।

(43)

जब जान्यो निजरूप को, तब जान्यो सब लोक,
नहीं जाना निजरूप को, सब जाना सो फोक।

(44)

व्यवहार से देव जिन निश्चय से है आप,
यही वचन से समझ ले, जिनप्रवचन की छाप।

(45)

जगत को बताने के लिये जो कुछ करता नहीं, उसे ही सत्संग फलीभूत होता है।

(46)

आत्मा को पहिचानना हो तो आत्मा के परिचयी होना, परवस्तु के त्यागी होना।

(47)

ध्यानदशा पर लक्ष्य देते हो, इसकी अपेक्षा आत्मस्वरूप पर लक्ष्य दो तो उपशमभाव सहज होगा।

(48)

सिद्ध का सुख स्मृति में लाओ।

(49)

तेरे दोष से तुझे बन्धन है, यह सन्त की पहली शिक्षा है। तेरा दोष इतना ही कि पर को अपना मानना और स्वयं अपने को भूल जाना।

(50)

इससे देह एक धारकर,
जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे।

(51)

दिगम्बर के तीव्र वचनों के कारण रहस्य कुछ समझा जा सकता है।

✶✶

पुरुषार्थमूर्ति श्री निहालचन्द्रजी सोगानी के

✶ वचनामृत ✶

(1)

सिद्ध से भी मैं अधिक हूँ, क्योंकि सिद्ध (दशा) तो एक समय की पर्याय है, और मैं तो ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड हूँ।

(2)

मैं वर्तमान में ही मुक्त हूँ, आनन्द की मूर्ति हूँ, आनन्द से भरचक समुद्र ही हूँ—ऐसी दृष्टि हो, तो फिर मोक्ष से भी प्रयोजन नहीं। मोक्ष हो तो हो, न हो तो भी क्या?

(3)

मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ, कृतकृत्य हूँ, मेरे कुछ करना-धरना है ही नहीं, ऐसी दृष्टि होते, परिणाम में आनन्द का अंश प्रगट होता है और बढ़ता-बढ़ता पूर्णता हो जाती है।

(4)

'अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं।' श्रीमद् का यह वाक्य मुझे बहुत प्रिय लगता है।

(5)

दूसरे से सुनना-माँगना सब पामरता है, दीनता है,

भिखारीपना है। मेरे में क्या कमी है, तो मैं दूसरे से माँगूँ? मैं ही परिपूर्ण हूँ।

(6)

'अहो! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधता है, वह भाव भी नुकसानकर्ता है।' यह बात कहने की किसकी ताकत है? यह तो गुरुदेव का ही सामर्थ्य है!

(7)

शक्ति की तरफ देखे तो इतना भारी-भारी लगता है कि सारा जगत फिर जावे तो भी वो नहीं फिर सकता है, ऐसा घनरूप है। उसमें कुछ विचलितता ही नहीं होती।

(8)

कुछ करे नहीं तो सुहावे नहीं ऐसी आदत (कर्ता-बुद्धि) हो गयी है, लेकिन कुछ करे तो सुहावे नहीं—ऐसा हाना चाहिए।

(9)

एक ही माटर की (Master Key) है, सब बातों में-सब शास्त्र में एक ही सार है। त्रिकालपने में अपनापन जोड़ देना है।

(10)

पूज्य गुरुदेवश्री अपने लिये अनन्त तीर्थंकर से अधिक हैं। क्योंकि अपना कार्य होने में निमित्त हुए—इसलिए। दूसरा

उन्होंने ये बताया कि भैया! तुम सिद्ध हो क्या, सिद्ध से भी अधिक हो। अनन्त सिद्धपर्यायें जहाँ से सदा ही निकलती रहे, ऐसा तुम हो। (173)

(11)

मैं ऐसी भूमिका हूँ, जहाँ से क्षण-क्षण में नया-नया फल उत्पन्न होता ही रहता है। मैं अमृतरस से ही भरा हूँ, और मैं ऐसी भूमि हूँ, जहाँ फल के लिये जल की भी जरूरत नहीं है, क्योंकि मैं स्वयं ही सुखरूप हूँ, दूसरे पदार्थों की अपेक्षा ही नहीं। (186)

(12)

अपन तो अपना सुखधाम में बैठे रहो, जमे रहो, बस यही एक बात कायम रख करके दूसरी-दूसरी सब बात खता लो। (188)

(13)

वर्तमान में ही मैं कृतकृत्य हूँ, ऐसी अपनी वस्तु में दृष्टि हुई तो 'करूँ, करूँ' ऐसी कर्तृत्वबुद्धि छूट गयी, बस ये ही मुक्ति है। (191)

(14)

'मैं निरालम्बी पदार्थ हूँ' ऐसा (निर्णय) आये बिना अभिप्राय में (पर का) आलम्बन छूटे ही नहीं। (216)

(15)

सारी दुनिया को छोड़कर, इधर आया तो इधर थपाट लगाकर कहते हैं कि अरे भाई! तू तेरी ओर जा। (225)

(16)

परिणाम में फेरफार करना, मुझ (चैतन्य) खान का स्वभाव नहीं है। पुरुषार्थ की खान ही मैं हूँ, फिर एक समय का पुरुषार्थ में करने की आकुलता क्या? (234)

(17)

यहाँ (त्रिकाली में) अपनापन आते, मोक्ष अपने-आप हो जाता है। दृष्टि यहाँ अभेद हुई तो यही मुक्ति समझ लो। (237)

(18)

सुनने के काल में भी 'मैं निरालम्बी तत्त्व हूँ' यहाँ से ही शुरु करना चाहिए। फिर सुनने, करने का भाव आयेगा, लेकिन मुख्यता नहीं होगी। (141)

(19)

लोग देखे कि यह चक्रवर्ती छह खण्डवाला है, और उनकी दृष्टि तो है अखण्ड पर।

(20)

अनादि काल से भटकते-भटकते, जब अपरिणामी में अपनापन हुआ कि 'मैं तो सदा मुक्त ही हूँ' बस! वो ही जीवन की धन्य पल है। (290)

(21)

(निर्विकल्पदशा में) बिजली का करण्ट की माफिक अतीन्द्रिय सुख प्रदेश–प्रदेश में व्यापक होकर प्रसर जाता है। (305)

(22)

(स्वरूप की) ऐसी रुचि होनी चाहिए कि उसके बिना क्षण भी चैन न रहे। (331)

(23)

मोक्ष होवे–न होवे, उसकी दरकार नहीं। (अतीन्द्रिय) सुख चालू हो गया, फिर पर्याय में मोक्ष होगा ही। (335)

(24)

सब शास्त्र में मूल तो अनुभूति पर ही आना है। (340)

(25)

बिजली का करण्ट लगते ही भय लगता है और उससे हटना चाहते हैं। लेकिन त्रिकाली स्वभाव में प्रवेश करते ही ऐसा आनन्द की सनसनाटी होती है कि उस आनन्द से क्षण भी हटना नहीं चाहते हैं। (371)

(26)

त्रिकाली शक्ति में अपनापन होते ही (दूसरे) सब आलम्बन उखड़ जाते हैं।

(27)

असल में तो बलवान वस्तु का बल आना चाहिए।

(28)

केवलज्ञान से अपने को लाभ होनेवाला नहीं और शुभाशुभभावों से अपने को नुकसान होनेवाला नहीं – ऐसा मैं तत्त्व हूँ। (429)

(29)

एक-एक बाजू से जानने जाते हैं, तो अखण्ड वस्तु जानने में रह जाती है।

(30)

आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त सुख भरा है। ऐसे असंख्य प्रदेश सुख से ही भरपूर हैं। चाहे जितना सुख पी लो। कभी खूटेगा ही नहीं। सदा ही सुख पीते ही रहो फिर भी कमी नहीं होती। (453)

(31)

विकल्प उठे तो ऐसा कहना कि हे गुरु! आप मेरा सर्वस्व हैं। (लेकिन) उसी समय अभिप्राय तो कहता है, मुझे तुम्हारी जरूरत नहीं। मेरा सर्वस्व मेरे पास है। (468)

(32)

यह ध्रुवतत्त्व किसी को नमता ही नहीं। खुद की सिद्धपर्याय को भी नमता नहीं।

(33)

सागरों तक बारह अंग का अभ्यास करते हैं, लेकिन यह परलक्षी ज्ञान में तो नुकसान ही नुकसान है। जो उपयोग बाहर में जावे तो दुःख होवे ही। स्व उपयोग में ही सुख है।

(34)

उसकी तो जरूरत है न! उसकी तो जरूरत है न! (ऐसा भाव अज्ञानी को रहता है) अरे भैया! पहले, मैं अजरूरितयवाला हूँ—उसका तो निर्णय करो।

(35)

मेरा स्वभाव ज्ञान, दर्शन आदि से लबालब भरा हुआ है, इसमें नया कुछ करना नहीं है—कुछ बढ़ाना भी नहीं है।

(36)

बारह अंग का सार 'निष्क्रिय चैतन्य यही मैं हूँ' ऐसा निर्णय करना है। मैं तो निष्क्रिय हूँ, कुछ करना ही नहीं है। मैं कुछ कर सकता ही नहीं। मेरे में कुछ करने की शक्ति ही नहीं। मैं वर्तमान में ही परिपूर्ण हूँ। (इसमें) करना ही क्या है! ऐसा यथार्थ निर्णय हुआ तो मुक्ति हो गयी। (554)

(37)

निष्क्रियभाव कहने से जीव को पुरुषार्थहीनता लगती है। अरे भाई! वो तो पुरुषार्थ की खाल है। और जो मुक्ति होती है, उसकी भी उसको दरकार (अपेक्षा) नहीं। (560)

(38)

नित्य वस्तु का ही भरोसा ठीक करनेयोग्य है। (564)

(39)

सिद्ध भगवान खिसकता ही नहीं। इसका अर्थ ही ऐसा है कि वो परिपूर्ण तृप्त–तृप्त हो गया है। इसलिए खिसकता ही नहीं।

(40)

सारा तीन लोक का सर्व पदार्थ ज्ञान में आ जावे, तो भी ज्ञान सबको पी जाता है। और कहता है कि अब कुछ बाकी हो तो आ जाओ। (577)

(41)

(निज सुख के लिये) सारा जगत में बस, मैं ही एक वस्तु हूँ। और कोई वस्तु है ही नहीं। अरे, दूसरी कोई वस्तु है या नहीं, ऐसा विकल्प भी क्यों? (578)

(42)

सारा जगत ज्ञान का ज्ञेय है। अनुकूल–प्रतिकूल कुछ नहीं। इस अभिप्राय में दृष्टि अभेद होनी चाहिए। अभिप्राय में पर से लाभ–नुकसान की मान्यता नहीं। अभिप्राय में इच्छा व दीनता नहीं होना चाहिए।

(43)

क्षणिकभाव व्यक्त है, उसको गौण करना और त्रिकालीभाव अव्यक्त है, उसको मुख्य करना।

(44)

एक ओर त्रिकाली का पल्ला, दूसरी ओर क्षणिक का पल्ला, जैसे एक ओर माल, दूसरी ओर बारदान। महत्ता माल की है, बारदान की नहीं।

(45)

ज्ञान की पर्याय ज्ञेय के साथ सम्बन्ध रखती है। ज्ञायक का सम्बन्ध किसी के साथ नहीं। (619)

(46)

मेरी भूमि वर्तमान में ही इतनी निष्कम्प व नक्कर है कि जिससे मैं वर्तमान में ही निर्भय हूँ, निरालम्बी हूँ, परिपूर्ण हूँ, निष्क्रिय हूँ, सुखरूप हूँ, कृतकृत्य हूँ, त्रिकाल एकरूप हूँ, अचल हूँ। (627)

(47)

एक पल्ले में आत्मा और एक पल्ले में तीन काल, तीन लोक, आत्मा का पल्ला बैठ जाता है, दूसरा पल्ला उघड़ जाता है।

(48)

द्रव्यलिंगी मुनि ने उल्टा वीर्य बहुत लगाया है, जितना

जोर से उल्टा पड़ा है, इससे अधिक वीर्य सम्यक् होने में लगाना पड़ेगा। तभी सम्यक् होगा।

(49)

निश्चय ग्रन्थ आत्मा है, निश्चय गुरु आत्मा है और निश्चय देव भी आत्मा है। मूल बात इधर से है। बाद में बाहर के निमित्तों पर उपचार किया जाता है। (636)

✶✶

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के
✴ वचनामृत ✴

(1)

शुद्धनय की अनुभूति अर्थात् शुद्धनय के विषयभूत अबद्धस्पृष्टादिरूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति, सो सम्पूर्ण जिनशासन की अनुभूति है। चौदह ब्रह्माण्ड के भाव उसमें आ गये। मोक्षमार्ग, केवलज्ञान, मोक्ष इत्यादि सब जान लिया। 'सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व'—अनन्त गुणों का अंश प्रगट हुआ; समस्त लोकालोक का स्वरूप ज्ञात हो गया। (200)

(2)

दृढ़ प्रतीति करके, सूक्ष्म उपयोगवाला होकर, द्रव्य में गहरे उतर जा, द्रव्य के पाताल में जा। वहाँ से तुझे शान्ति एवं आनन्द प्राप्त होगा। खूब धीर-गंभीर होकर द्रव्य के तल का स्पर्श कर। (202)

(3)

चैतन्य की अगाधता, अपूर्वता और अनन्तता बतलानेवाले गुरु के वचनों द्वारा शुद्धात्मदेव बराबर जाना जा सकता है। चैतन्य की महिमापूर्वक संसार की महिमा छूटे तो चैतन्यदेव समीप आता है।

(4)

सर्वस्वरूप से उपादेय मात्र शुद्धोपयोग है। अन्तर्मुहूर्त को नहीं किन्तु शाश्वत अन्तर में रह जाना, वही निज स्वभाव है, वही कर्तव्य है। (221)

(5)

अपना अगाध गंभीर ज्ञायकस्वभाव पूर्ण रीति से देखने पर समस्त लोकालोक भूत-भविष्य की पर्यायों सहित समयमात्र में ज्ञात हो जाता है। अधिक जानने की आकांक्षा से बस होओ, स्वरूपनिश्चल ही रहना योग्य है। (226)

(6)

आत्मा के गुण गाते-गाते गुणी हो गया—भगवान हो गया; असंख्य प्रदेशों में अनन्त गुणरत्नों के कमरे सब खुल गये। (231)

(7)

यदि तुझे अपना परिभ्रमण मिटाना हो तो अपने द्रव्य को तीक्ष्ण बुद्धि से पहिचान ले। यदि द्रव्य तेरे हाथ में आ गया तो तुझे मुक्ति की पर्याय सहज ही प्राप्त हो जायेगी। (238)

(8)

ओहो! यह तो भगवान आत्मा! सर्वांग सहजानन्द की मूर्ति! जहाँ से देखो वहाँ आनन्द, आनन्द और आनन्द। जैसे मिश्री में सर्वांग मिठास, वैसे ही आत्मा में सर्वांग आनन्द। (241)

(9)

'मैं मुक्त ही हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तो परिपूर्ण द्रव्य को पकड़कर बैठा हूँ।'—इस प्रकार जहाँ अन्तर में निर्णय करता है, वहाँ अनन्त विभूति अंशतः प्रगट हो जाती है। (245)

(10)

आत्मसाक्षात्कार ही अपूर्व दर्शन है। अनन्त काल में न हुआ हो ऐसा, चैतन्यतत्त्व में जाकर जो दिव्य दर्शन हुआ, वही अलौकिक दर्शन है। सिद्धदशा तक की सर्व लब्धियाँ शुद्धात्मानुभूति में जाकर मिलती हैं। (247)

(11)

विश्व का अद्भुत तत्त्व तू ही है। उसके अन्दर जाने पर तेरे अनन्त गुणों का बगीचा खिल उठेगा। वहीं ज्ञान मिलेगा, वहीं आनन्द मिलेगा; वहीं विहार कर। अनन्त काल का विश्राम वहीं है। (248)

(12)

द्रव्य उसे कहते हैं जिसके कार्य के लिये दूसरे साधनों की राह न देखना पड़े। (251)

(13)

दृष्टि पूर्ण आत्मा पर रखकर तू आगे बढ़ तो सिद्ध भगवान जैसी दशा हो जायेगी। यदि स्वभाव में अधूरापन मानेगा तो

पूर्णता को कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसलिये तू अधूरा नहीं, पूर्ण है—ऐसा मान। (261)

(14)

द्रव्य सूक्ष्म है; इसलिए उपयोग को सूक्ष्म कर तो सूक्ष्म द्रव्य पकड़ में आयेगा। सूक्ष्म द्रव्य को पकड़कर आराम से आत्मा में बैठना, वह विश्राम है। (262)

(15)

ज्ञानी जीव निःशंक तो इतना होता है कि सारा ब्रह्माण्ड उलट जाये, तब भी स्वयं नहीं पलटता; विभाव के चाहे जितने उदय आयें, तथापि चलित नहीं होता। बाहर के प्रतिकूल संयोग से ज्ञायकपरिणति नहीं बदलती। (298)

(16)

जीव राग और ज्ञान की एकता में उलझ गया है। निज अस्तित्व को पकड़े तो उलझन निकल जाये। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा अस्तित्व लक्ष में आना चाहिए। (301)

(17)

तू अपने को देख; जैसा तू है, वैसा ही तू प्रगट होगा। तू महान देवाधिदेव है; उसकी प्रगटता के लिये उग्र पुरुषार्थ एवं सूक्ष्म उपयोग कर। (305)

(18)

रुचि का पोषण और तत्त्व का मंथन चैतन्य के साथ

एकाकार हो जाये तो कार्य होता ही है। अनादि के अभ्यास से विभाव में ही प्रेम लगा है, उसे छोड़। जिसे आत्मा रुचता है, उसे दूसरा नहीं रुचता और उससे आत्मा गुप्त-अप्राप्य नहीं रहता। जागता जीव विद्यमान है, वह कहाँ जायेगा? अवश्य प्राप्त होगा ही। (306)

(19)

निज चेतनपदार्थ के आश्रय से अनन्त अद्भुत आत्मिक विभूति प्रगट होती है। अगाध शक्ति में से क्या नहीं आता? (341)

(20)

जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभाव में आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी। (380)

(21)

आत्मा उत्कृष्ट अजायबघर है। उसमें अनन्त गुणरूप अलौकिक आश्चर्य भरे हैं। देखने जैसा सब कुछ, आश्चर्यकारी ऐसा सब कुछ, तेरे अपने अजायबघर में ही है, बाह्य में कुछ नहीं है। तू उसी का अवलोकन कर न! उसके भीतर एक बार झाँकने से भी तुझे अपूर्व आनन्द होगा। वहाँ से बाहर निकलना तुझे सुहायेगा ही नहीं। बाहर की सर्व वस्तुओं के

प्रति तेरा आश्चर्य टूट जायेगा। तू पर से विरक्त हो जायेगा। (387)

(22)

ज्ञानी की परिणति सहज होती है। हर एक प्रसङ्ग में भेदज्ञान को याद करके उसे घोखना नहीं पड़ता, परन्तु उनके तो ऐसा सहज परिणमन ही हो जाता है — आत्मा में धारावाही परिणमन वर्तता ही रहता है। (3)

(23)

ज्ञान और वैराग्य एक-दूसरे को प्रोत्साहन देनेवाले हैं। ज्ञान रहित वैराग्य वह सचमुच वैराग्य नहीं है किन्तु रुँधा हुआ कषाय है। परन्तु ज्ञान न होने से जीव, कषाय को पहिचान नहीं पाता। ज्ञान स्वयं मार्ग को जानता है और वैराग्य है, वह ज्ञान को कहीं फँसने नहीं देता किन्तु सबसे निस्पृह एवं स्व की मौज में ज्ञान को टिका रखता है। ज्ञानसहित जीवन नियम से वैराग्यमय ही होता है। (4)

(24)

स्वभाव की बात सुनते ही सीधी हृदय पर चोट लग जाए। 'स्वभाव' शब्द सुनते ही शरीर को चीरता हुआ हृदय में उतर जाए, रोम-रोम उल्लसित हो जाए — इतना हृदय में हो, और स्वभाव को प्राप्त किए बिना चैन न पड़े, सुख न लगे, उसे लेकर ही छोड़े। यथार्थ भूमिका में ऐसा होता है। (6)

(25)

जगत में जैसे कहते हैं कि कदम-कदम पर पैसे की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार आत्मा में पग-पग पर अर्थात् पर्याय-पर्याय में पुरुषार्थ ही आवश्यक है। पुरुषार्थ के बिना एक भी पर्याय प्रगट नहीं होती अर्थात् रुचि से लेकर ठेठ केवलज्ञान तक पुरुषार्थ ही आवश्यक है। (7)

(26)

ऊपर-ऊपर के वाँचन-विचार आदि से कुछ नहीं होता, हृदय से भावना उठे तो मार्ग सरल होता है। अन्तस्तल में से ज्ञायक की खूब महिमा आनी चाहिए। (23)

(27)

आत्मार्थी को स्वाध्याय करना चाहिए, विचार-मनन करना चाहिए; यही आत्मार्थी की खुराक है। (24)

(28)

भविष्य का चित्रण कैसा करना है, वह तेरे हाथ की बात है। इसलिए कहा है कि—'बन्ध समय जीव चेतो रे, उदय समय क्या चिन्त!' (28)

(29)

'मैं अबद्ध हूँ', 'ज्ञायक हूँ', यह विकल्प भी दुःखरूप लगते हैं, शान्ति नहीं मिलती; विकल्पमात्र में दुःख ही दुःख भासता है, तब अपूर्व पुरुषार्थ उठाकर वस्तुस्वभाव में लीन

होने पर, आत्मार्थी जीव को सब विकल्प छूट जाते हैं और आनन्द का वेदन होता है। (37)

(30)

आत्मा को प्राप्त करने का जिसे दृढ़ निश्चय हुआ है, उसे प्रतिकूल संयोगों में भी तीव्र एवं कठिन पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। सच्चा मुमुक्षु, सद्‌गुरु के गम्भीर तथा मूल वस्तुस्वरूप समझ में आए, ऐसे रहस्यों से भरपूर वाक्यों का खूब गहरा मन्थन करके मूल मार्ग को ढूँढ़ निकालता है। (38)

(31)

जीवन आत्मामय ही कर लेना चाहिए। भले ही उपयोग सूक्ष्म होकर कार्य नहीं कर सकता हो परन्तु प्रतीति में ऐसा ही होता है कि यह कार्य करने से ही लाभ है, मुझे यही करना है; वह वर्तमान पात्र है। (46)

(32)

तू सत् की गहरी जिज्ञासा कर, जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा; तेरी मति सरल एवं सुलटी होकर आत्मा में परिणमित हो जाएगा। सत् के संस्कार गहरे डाले होंगे तो अन्त में अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा। इसलिए सत् के गहरे संस्कार डाल। (50)

(33)

जीव ज्ञायक के लक्ष्य से श्रवण करे, चिन्तवन करे, मन्थन करे, उसे भले कदाचित् सम्यग्दर्शन न हो, तथापि सम्यक्त्वसन्मुखता होती है। अन्दर दृढ़ संस्कार डाले, उपयोग एक विषय में न टिके तो अन्य में बदले, उपयोग सूक्ष्म से सूक्ष्म करे, उपयोग में सूक्ष्मता करते करते, चैतन्यतत्त्व को ग्रहण करते हुए आगे बढ़े, वह जीव क्रम से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। (62)

(34)

द्रव्य तो निवृत्त ही है। उसका दृढ़ता से अवलम्बन लेकर भविष्य के विभाव से भी निवृत्त होओ। मुक्ति तो जिनके हाथ में आ गई है ऐसे मुनियों को भेदज्ञान की तीक्ष्णता से प्रत्याख्यान होता है। (73)

(35)

'मैं तो उदासीन ज्ञाता हूँ' – ऐसी निवृत्तदशा में ही शान्ति है। स्वयं अपने को जाने और पर का अकर्ता हो तो मोक्षमार्ग की धारा प्रगटे और साधकदशा का प्रारम्भ हो। (84)

(36)

मुनि असंगरूप से आत्मा की साधना करते हैं, स्वरूपगुप्त हो गये हैं। प्रचुर स्वसंवेदन ही मुनि का भावलिंग है। (95)

(37)

'मैं अनादि-अनन्त मुक्त हूँ' — इस प्रकार शुद्ध आत्मद्रव्य पर दृष्टि देने से शुद्धपर्याय प्रगट होती है। 'द्रव्य तो मुक्त है, मुक्ति की पर्याय को आना हो तो आये' इस प्रकार द्रव्य के प्रति आलम्बन और पर्याय के प्रति उपेक्षावृत्ति होने पर स्वाभाविक शुद्ध पर्याय प्रगट होती ही है। (100)

(38)

आत्मा सर्वोत्कृष्ट है, आश्चर्यकारी है। जगत में उससे ऊँची वस्तु नहीं है। उसे कोई ले जा नहीं सकता। जो छूट जाती है, वह तो तुच्छ वस्तु है; उसे छोड़ते हुए तुझे डर क्यों लगता है? (102)

(39)

'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा स्वीकार करने से पर्याय की रचना शुद्ध ही होती है। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। (104)

(40)

आत्मा ने तो परमार्थ से त्रिकाल एक ज्ञायकपने का ही वेश धारण किया हुआ है। ज्ञायकतत्त्व को परमार्थ से कोई पर्यायवेश नहीं है, कोई पर्याय-अपेक्षा नहीं है। आत्मा 'मुनि है' या 'केवलज्ञानी है' या 'सिद्ध है' ऐसी एक ही पर्याय-अपेक्षा वास्तव में ज्ञायक पदार्थ को नहीं है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। (105)

(41)

परम पुरुष तेरे निकट होने पर भी तूने देखा नहीं है। दृष्टि बाहर की बाहर ही है। (110)

(42)

परमात्मा सर्वोत्कृष्ट कहलाता है। तू स्वयं ही परमात्मा है। (111)

(43)

सहज तत्त्व अखण्डित है। चाहे जितना काल गया, चाहे जितने विभाव हुए, तथापि परमपारिणामिकभाव ज्यों का त्यों अखण्ड रहा है; कोई गुण अंशतः भी खण्डित नहीं हुआ है। (112)

(44)

चाहे जैसे संयोग में आत्मा अपनी शान्ति प्रगट कर सकता है। (116)

(45)

गुरु की वाणी से जिसका हृदय बिंध गया है और जिसे आत्मा की लगन लगी है, उसका चित्त अन्यत्र कहीं नहीं लगता। उसे एक परमात्मा ही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं। (119)

(46)

निजचैतन्यदेव स्वयं चक्रवर्ती है, उसमें से अनन्त रत्नों

की प्राप्ति होगी। अनन्त गुणों की जो ऋद्धि प्रगट होती है, वह अपने में है। (130)

(47)

शुद्धोपयोग से बाहर मत आना; शुद्धोपयोग ही संसार से बचने का मार्ग है। शुद्धोपयोग में न रह सके तो प्रतीति तो यथार्थ रखना ही। यदि प्रतीति में फेर पड़ा तो संसार खड़ा है। (131)

(48)

चैतन्यपरिणति ही जीवन है। बाह्य में तो सब अनन्त बार मिला, वह अपूर्व नहीं है, परन्तु अन्तर का पुरुषार्थ ही अपूर्व है। बाह्य में जो सर्वस्व मान लिया है, उसे पलटकर स्व में सर्वस्व मानना है। (137)

(49)

हे शुद्धात्मा! तू मुक्तस्वरूप है। तुझे पहिचानने से पाँच प्रकार के परावर्तनों से छुटकारा होता है; इसलिए तू सम्पूर्ण मुक्ति का दाता है। तुझ पर निरन्तर दृष्टि रखने से, तेरी शरण में आने से, जन्म-मरण मिटते हैं। (166)

(50)

एक चैतन्य को ही ग्रहण कर। सर्व ही विभावों से परिमुक्त, अत्यन्त निर्मल निज परमात्मतत्त्व को ही ग्रहण कर, उसी में लीन हो, एक परमाणुमात्र की भी आसक्ति छोड़ दे। (170)

(51)

पूज्य गुरुदेव ने मोक्ष का शाश्वत मार्ग अन्तर में बतलाया है, उस मार्ग पर जा। (194)

(52)

सबको एक ही करना है:—प्रतिक्षण आत्मा को ही ऊर्ध्व रखना, आत्मा की ही प्रमुखता रखना। जिज्ञासु की भूमिका में भी आत्मा को ही अधिक रखने का अभ्यास करना। (195)

(53)

चैतन्य की अगाधता, अपूर्वता और अनंतता बतलानेवाले गुरु के वचनों द्वारा शुद्धात्मदेव को बराबर जाना जा सकता है। चैतन्य की महिमापूर्वक संसार की महिमा छूटे, तभी चैतन्यदेव समीप आता है।

हे शुद्धात्मदेव! तेरी शरण में आने से ही यह पंच परावर्तनरूपी रोग शान्त होता है। जिसे चैतन्यदेव की महिमा आयी, उसे संसार की महिमा छूट ही जाती है। अहो! मेरे चैतन्यदेव में तो परम विश्रान्ति है, बाहर निकलने पर तो अशान्ति का ही अनुभव होता है।

मैं निर्विकल्प तत्त्व ही हूँ। ज्ञानानन्द से भरा हुआ जो निर्विकल्प तत्त्व, बस वही मुझे चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिए। (205)

(54)

ज्ञाता का ध्यान करते-करते आत्मा ज्ञानमय हो गया, ध्यानमय हो गया—एकाग्रतामय हो गया। अन्दर चैतन्य के नन्दनवन में उसे सब कुछ मिल गया; अब बाहर क्यों जाये? ग्रहण करने योग्य आत्मा को ग्रहण कर लिया, छोड़ने योग्य सब छूट गया; अब किसलिये बाहर जाये? (232)

(55)

अन्दर से ज्ञान एवं आनन्द असाधारणरूप से पूर्ण प्रगट हुए उसे अब बाहर से क्या लेना बाकी रहा? निर्विकल्प हुए सो हुए, बाहर आते ही नहीं। (233)

(56)

ओहो! आत्मा तो अनन्त विभूतियों से भरपूर, अनन्त गुणों की राशि, अनन्त गुणों का विशाल पर्वत है! चारों ओर गुण ही भरे हैं। अवगुण एक भी नहीं है। ओहो! यह मैं? ऐसे आत्मा के दर्शन के लिये जीव ने कभी सच्चा कौतूहल ही नहीं किया। (244)

(57)

'मैं मुक्त ही हूँ। मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तो परिपूर्ण द्रव्य को पकड़कर बैठा हूँ।'—इस प्रकार जहाँ अन्तर में निर्णय करता है, वहाँ अनन्त विभूति अंशतः प्रगट हो जाती है। (245)

(58)

जो खूब थका हुआ है, द्रव्य के सिवा जिसे कुछ चाहिए ही नहीं, जिसे आशा-पिपासा छूट गयी है, द्रव्य में जो हो, वही जिसे चाहिए, वह सच्चा जिज्ञासु है।

द्रव्य जो कि शान्तिमय है, वही मुझे चाहिए—ऐसी निस्पृहता आये तो द्रव्य में गहरा जाये और सब पर्याय प्रगट हो। (272)

(59)

'शुभाशुभभाव से भिन्न, मैं ज्ञायक हूँ' यह प्रत्येक प्रसंग में याद रखना। भेदज्ञान का अभ्यास करना ही मनुष्यजीवन की सार्थकता है। (276)

(60)

बाहर के सब कार्यों में सीमा—मर्यादा होती है। अमर्यादित तो अन्तर्ज्ञान और आनन्द है। वहाँ सीमा—मर्यादा नहीं है। अन्तर में—स्वभाव में मर्यादा नहीं होती। जीव को अनादि काल से जो बाह्य वृत्ति है, उसकी यदि मर्यादा न हो, तब तो जीव कभी उससे विमुख ही न हो, सदा बाह्य में ही रुका रहे। अमर्यादित तो आत्मस्वभाव ही है। आत्मा अगाध शक्ति से भरा है। (281)

(61)

यह तो अनादि का प्रवाह मोड़ना है। कार्य कठिन तो है,

परन्तु स्वयं ही करना है। बाह्य आधार किस काम का? आधार तो अपने आत्मतत्त्व का लेना है। (286)

(62)

चैतन्य की गहरी भावना तो अन्य भव में भी चैतन्य के साथ ही आती है। आत्मा तो शाश्वत पदार्थ है न? ऊपरी विचारों में नहीं परन्तु अन्तर में मंथन करके तत्त्वविचारपूर्वक गहरे संस्कार डाले होंगे तो वे साथ आयँगे। (289)

(63)

परिभ्रमण करते अनन्त काल बीत गया। उस अनन्त काल में जीव ने 'आत्मा का करना है' ऐसी भावना तो की परन्तु तत्त्वरुचि और तत्त्वमंथन नहीं किया। रुचने में तो एक आत्मा ही रुचे, ऐसा जीवन बना लेना चाहिए। (300)

(64)

चैतन्यलोक अद्भुत है। उसमें ऋद्धि की न्यूनता नहीं है। रमणीयता से भरे हुए इस चैतन्यलोक में से बाहर आना नहीं सुहाता। ज्ञान की ऐसी शक्ति है कि जीव एक ही समय में इस निज ऋद्धि को तथा अन्य सबको जान ले। वह अपने क्षेत्र में निवास करता हुआ जानता है; श्रम पड़े बिना, खेद हुए बिना जानता है। अन्तर में रहकर सब जान लेता है, बाहर झाँकने नहीं जाना पड़ता। (310)

(65)

अपनी महिमा ही अपने को तारती है। बाहरी भक्ति-महिमा से नहीं परन्तु चैतन्य की परिणति में चैतन्य की निज महिमा से तरा जाता है। चैतन्य की महिमावन्त को भगवान की सच्ची महिमा होती है। अथवा भगवान की महिमा समझना, वह निज चैतन्य-महिमा को समझने में निमित्त होता है। (316)

(66)

जैसे एक रत्न का पर्वत हो और एक रत्न का कण हो, वहाँ कण तो नमूनेरूप है, पर्वत का प्रकाश और उसका मूल्य अत्यधिक होता है; उसी प्रकार केवलज्ञान की महिमा श्रुतज्ञान की अपेक्षा अत्यधिक है। एक समय में सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को सम्पूर्णरूप से जाननेवाले केवलज्ञान में और अल्प सामर्थ्यवाले श्रुतज्ञान में—भले ही वह अन्तर्मुहूर्त में सर्व श्रुत फेरनेवाले श्रुतकेवली का श्रुतज्ञान हो तथापि—बहुत बड़ा अन्तर है। जहाँ ज्ञान अनन्त किरणों से प्रकाशित हो उठा, जहाँ चैतन्य की चमत्कारिक ऋद्धि पूर्ण प्रगट हो गयी—ऐसे पूर्ण क्षायिकज्ञान में और खण्डात्मक क्षायोपशमिकज्ञान में अनन्तगुना अन्तर है। (324)

(67)

ज्ञानी को स्वानुभूति के समय या उपयोग बाहर आये, तब दृष्टि तो सदा अन्तस्तल पर ही लगी रहती है। बाह्य में

एकमेक हुआ दिखायी दे, तब भी वह तो (दृष्टि–अपेक्षा से) गहरी अन्तर्गुफा में से बाहर निकलता ही नहीं। (325)

(68)

जिसने तल को स्पर्श किया, उसे बाहर सब थोथा लगता है। चैतन्य के तल में पहुँच गया, वह चैतन्य की विभूति में पहुँच गया। (326)

(69)

किसी भी प्रसंग में एकाकार नहीं हो जाना। मोक्ष के सिवा तुझे और क्या प्रयोजन है? प्रथम भूमिका में भी 'मात्र मोक्ष–अभिलाष' होती है।

जो मोक्ष का अर्थी हो, संसार से जो थक गया हो, उसके लिए गुरुदेव की वाणी का प्रबलस्रोत बह रहा है, जिसमें से मार्ग सूझता है। वास्तव में तो अन्तर से थकान लगे तो, ज्ञानी द्वारा कुछ दिशा सूझने के बाद अन्तर ही अन्तर में प्रयत्न करने से आत्मा मिल जाता है। (351)

(70)

तरने का उपाय बाहरी चमत्कारों में नहीं रहा है। बाह्य चमत्कार साधक का लक्षण भी नहीं है। चैतन्यचमत्कार–स्वरूप स्वसंवेदन ही साधक का लक्षण है। जो अन्तर की गहराई में राग के एक कण को भी लाभरूप मानता है, उसे आत्मा के दर्शन नहीं होते। निस्पृह ऐसा हो जा कि मुझे अपना अस्तित्व ही चाहिए, अन्य कुछ नहीं चाहिए। एक आत्मा

की ही लगन लगे और अन्तर में से उत्थान हो तो परिणति पलटे बिना न रहे। (355)

(71)

मुनिराज का निवास चैतन्य देश में है। उपयोग तीक्ष्ण होकर गहरे-गहरे चैतन्य की गुफा में चला जाता है। बाहर आने पर मुर्दे जैसी दशा होती है। शरीर के प्रति राग छूट गया है। शान्ति का सागर उमड़ा है। चैतन्य की पर्याय की विविध तरंगे उछल रही हैं। ज्ञान में कुशल हैं, दर्शन में प्रबल हैं, समाधि के वेदक हैं। अन्तर में तृप्त-तृप्त हैं। मुनिराज मानों वीतरागता की मूर्ति हों, इस प्रकार परिणमित हो गये हैं। देह में वीतरागदशा छा गई है। जिन नहीं परन्तु जिनसरीखे हैं। (356)

(72)

गुरुदेव ने शास्त्रों के गहन रहस्य सुलझाकर सत्य ढूँढ़ निकाला और हमारे सामने स्पष्टरूप से रखा है। हमें कहीं सत्य ढूँढ़ने को जाना नहीं पड़ा। गुरुदेव का कोई अद्‌भुत प्रताप है। 'आत्मा' शब्द बोलना सीखे हों तो वह भी गुरुदेव के प्रताप से। 'चैतन्य हूँ', 'ज्ञायक हूँ'—इत्यादि सब गुरुदेव के प्रताप से ही जाना है। भेदज्ञान की बात सुनने को मिलना दुर्लभ थी, उसके बदले उनकी सातिशय वाणी द्वारा उसके हमेशा झरने बह रहे हैं। गुरुदेव मानो हाथ पकड़कर सिखा रहे हैं। स्वयं पुरुषार्थ करके सीख लेने जैसा है। अवसर चूकना योग्य नहीं है। (364)

✶✶